14

कालेज के दिन

मैंने मैट्रिक की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की थी। मेरे प्रधानाध्यापक और अन्य शिक्षकों की अपेक्षा थी कि मैं प्रथम श्रेणी में पास करके स्कूल का नाम ऊँचा करूंगा परंतु इसमें मैंने उन्हे निराश ही किया। यद्यपि स्कूल के मैट्रिक पास करनेवाले विद्यार्थियों में मैं सबसे ऊपर था परंतु 8-9 अंकों की कमी से प्रथम श्रेणी में आने से रह गया था। इसी प्रकार इंटर और बी. ए. में भी सदा प्रथम श्रेणी आठ-नौ अंको से मेरी पहुँच से दूर रही। बी. ए. पास करके तो मैंने इसी लज्जा के कारण एम. ए. में प्रवेश नहीं लिया और अपनी पढ़ाई आगे नहीं बढ़ायी जिसे मैं भावुकता में की गयी अपने जीवन की एक बड़ी मूर्खता मानता हूँ। पढ़ाई छोड़ने के बाद मैंने जब अपनी बी. ए. की अंक-तालिका मँगायी तो मैंने देखा कि दर्शन, नीति और मनोविज्ञान के तीनों पर्चों में मुझे 81-82 और 83 अंक मिले थे और विश्वविद्यालय के दस उच्च अंक पानेवालो में मेरा नाम था। अंग्रेजी में भी ऊँचे अंक थे परंतु केवल हिंदी में, जिसमें मैं अपने को विशिष्ट समझता था, कम अंक आने के कारण 8-9 अंको से मैं प्रथम श्रेणी से वंचित हो गया था। यह जानकारी पाने के समय तक मैं पारिवारिक उलझनों में फँस चुका था अतः दुबारा लौटकर विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना संभव नहीं था। खाँसी की पुरानी बीमारी के कारण मुझे यक्ष्मा का भी संदेह हो गया था। मुझे दर्शन शास्त्र के मेरे अध्यापक प्रो. बी. एल. अत्रे ने कहा था कि तुम दर्शनशास्त्र विषय लेकर एम. ए. में प्रवेश ले लो। तुम्हें प्रथम श्रेणी दिलाने का मैं वचन देता हूँ। परंतु भाग्य का लेख और ही था। मैंने दो-तीन बार विभिन्न विश्वविद्यालयों से एम. ए. की परीक्षा की तैयारी की परंतु किसी-न-किसी कारण से अंतिम समय में हट जाना पड़ा। एक बार तो मेरे पिता के अभिन्न मित्र हाइकोर्ट के पूर्व जज तथा पटना विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति माननीय सर ख्वाजा मुहम्मद नूर साहब की अनुशंसा से मुझे पटना विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में प्राइवेट विद्यार्थी के रूप में एम. ए. करने की स्वीकृति भी मिल गयी थी और मैंने पूरी तैयारी ही नहीं की थी, कलीमुद्दीन अहमद, दिवाकर प्रसाद 'विद्यार्थी' और अन्य प्रोफेसरों की एम. ए. की कक्षा में बैठकर उनके कितने ही व्याख्यान

भी सुने थे, परंतु अंत में पटना विश्वविद्यालय के कोर्ट के एक प्रमुख सदस्य के विरोध के कारण मेरा स्वीकृतिपत्र निरस्त कर दिया गया था।

दुबारा दो-तीन वर्षों के बाद, जब मैं नियमित रूप से, बी. ए. परीक्षा से तीन वर्षों की अवधि पूर्ण होने के कारण, एम. ए. में स्वयंपाठी छात्र के रूप में बैठने का अधिकारी भी हो गया था और मैंने इसकी पूरी तैयारी कर ली थी कि पटना-विश्वविद्यालय ने, जो उस समय सारे बिहार प्रदेश का एक मात्र विश्वविद्यालय था, मुझे हिंदी का बी. ए. का परीक्षक बना दिया। विश्वविद्यालय के परीक्षकों की समितियों में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मैं एम. ए. नहीं हूँ यद्यपि यह बात सर्वविदित थी कि मैं किसी भी कालेज में प्राध्यापक नहीं हूँ और इसी बात के लिए प्राध्यापक-वर्ग में काफी नुक्ताचीनी चल रही थी कि ऐसी अवस्था में मैं परीक्षक कैसे बना दिया गया। इस संबंध में विश्वविद्यालय के सिनेट में भी विवाद उठाया गया था जिसे तत्कालीन मेरे मित्र श्री अमरेंद्रनारायण अग्रवाल ने, जो विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे और जिनके कारण ही मुझे परीक्षक बनाया गया था, यह कह कर सब आपत्तियों को निरस्त कर दिया कि जिस प्रकार इनके पहले राष्ट्रकवि दिनकरजी प्राध्यापक न रहते हुए भी परीक्षक बना दिये गये थे, उसी प्रकार गुलाबजी भी, जो हिंदी के महाकवि हैं, परीक्षक बनाये गये हैं।

मैंने बी. ए. का हिंदी परीक्षक बनने के बाद एम. ए. की हिंदी की परीक्षा में बैठने का विचार इसलिए छोड़ दिया कि एक तो यह बात और प्रचारित हो जायगी कि मैं एम. ए. भी नहीं हूँ और परीक्षा देने के बाद यदि प्रथम श्रेणी में पास न हुआ तो मेरे लिए मुँह दिखाना भी कठिन होगा।

इस प्रकार जीवन में एम. ए. बनने की लालसा मन की मन में रह गयी, यद्यपि बाद में, मेरे महाकाव्य 'उषा' को 1964 में मगध विश्वविद्यालय में बी. ए. के पाठ्यक्रम में रख दिये जाने से, मेरे प्रबंध काव्य अहल्या पर एम. ए. का डिसर्टेसन लिखे जाने से तथा अनेक व्यक्तियों के मेरे साहित्य पर विविध विश्वविद्यालयों से पी. एच. डी. की उपाधि पा लेने से मेरी इस पीड़ा का शमन हो चुका है कि मैं अपने को एम. ए. नहीं लिख सकता। हाँ, अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा जो **साहित्य-वाचस्पति** की उसकी सर्वोच्च उपाधि 1991 में डा. रामकुमार वर्मा द्वारा मुझे प्रदान की गयी, उसे मैं अवश्य अपने नाम के साथ जोड़ सकता हूँ जो पी. एच. डी. के समकक्ष है और एम. ए. से भी बड़ी है। उसके बाद तो पिछले 15 वर्षों से अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति के नाते **साहित्य-वाचस्पति** तथा अन्य उपाधियाँ मैं स्वयं दूसरों को दे रहा हूँ। ये सब बातें एम. ए. के अभाव की भली भाँति पूर्ति कर देती हैं।

इस संबंध में पं. सीतारामजी चतुर्वेदी ने, जो दीर्घकाल तक हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक, देश के महान नेता महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी के निजी सचिव रहे है, मालवीयजी का एक संस्मरण भी मुझे सुनाया था। मालवीयजी एक बार पूर्णिमा की रात में चतुर्वेदीजी को साथ लेकर मोटर से विश्वविद्यालय परिसर में घूमने निकल गये। आर्ट्स कालेज के पास उन्होंने मोटर रुकवा दी और बाहर निकलकर चतुर्वेदीजी के साथ आर्ट्स कालेज के चबूतरे पर बैठ गये। उन्होंने चतुर्वेदीजी से कहा - 'सीताराम, मुझे यही लालसा रह गयी कि मैं एम. ए. नहीं कर सका।' यह बात मनोविनोद के रूप में कही गयी होगी अन्यथा जिनके विद्यालय से हजारों एम. ए. के विद्वान सारे भारत में अपने यश की पताका फहरा रहे है, उनके विषय में ऐसी बात सोची भी नहीं जा सकती।

मैं अपने साहित्यिक कार्यकलापों के सिलसिले में अपने कालेज की चर्चा कर चुका हूँ परंतु विशिष्ट घटनाओं का और कालेज के सहपाठियों का उसमें विशेष परिचय नहीं आया है। कालेज के दिनों की स्मृति प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की सब से मधुर स्मृति होती है। न अर्थोपार्जन की चिंता, न जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने का बोझ। चढ़ती उम्र और आँखों पर रोमांस का सपना। मैंने **प्रीति न करियो कोय** नामक अपनी रचना में उस प्रकार की मनःस्थिति की थोडी सी झाँकी इन शब्दों में दी है:–

कहा मैंने–'देखा है मुद्दत के बाद
कहो, दोस्त ! कुछ उन दिनों की है याद
जवानी का जब हम पे था पहला दौर
कलेजे में उठती थी रह-रह हिलोर
ये दुनिया थी जादूगरी की तरह
थी कमसिन हरेक बुत परी की तरह
निकलते थे जब बाग़ की सैर पर
हरेक गुल में लैला थी आती नज़र
न पड़ते थे धरती पे दम भर क़दम
जुलेख़ाओं में जैसे यूसुफ़ थे हम !

कालेज में मेरे सहपाठियों में श्री सहदेव देवड़ा, महावीर देवड़ा और शंकर खेमानी मेरे सब से पहले दिनों के साथी थे। हम लोगों ने एक ही

दिन हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश पाया था और आपस में परिचित हुए थे। बातचीत में यह रहस्य खुलने पर कि वे यद्यपि आसाम के डिबरूगढ़ नगर से आये थे, मूलतः राजस्थान में मेरे ही गाँव मंडावा के निवासी थे जहाँ उनके पिता तथा मेरे पिता प्रारंभिक शिक्षा एक साथ पा चुके थे, हम लोग और भी निकट एक परिवार के सदस्य के समान हो गये थे। होस्टल में भी हम लोगों के कमरे आसपास थे जिससे यह परिचय और प्रगाढ़ होता गया।

इनमें से शंकर खेमानी की कालेज छोड़ने के साल-दो-साल बाद ही एक हवाई दुर्घटना में मृत्यु हो गयी थी। महावीर देवड़ा से मेरी पुनः भेंट नहीं हो सकी यद्यपि उसके समाचार मिलते रहते थे। अभी कुछ वर्ष पूर्व उसकी पत्नी और पुत्र की दुःखद मृत्यु की सूचना मिलने पर मैंने उसे अपना शोक-संदेश भी भेजा था। उसका सुखी और संतुलित जीवन एकाएक भाग्य ने ध्वस्त कर दिया था। कुछ दिनों बाद ही उसका स्वयं का भी देहांत हो गया। महावीर देवड़ा के चचेरे भाई मेरे तीसरे सहपाठी श्री सहदेव देवड़ा से तो उसके कोलकाता में रहने के कारण मेरा निरंतर संपर्क बना हुआ था। अपने परिवार की स्थिति दुर्बल हो जाने पर विद्यार्थि-काल के बाद से उसने जिस प्रकार अथक परिश्रम और बुद्धिबल से पुनः समृद्ध स्थिति प्राप्त की थी, वह घटना राजस्थान से पिछली पीढ़ियों में आनेवाले कर्मठ व्यक्तियों की याद ताज़ा कर देती है। मैंने तो बाग़ में लगे हुए वृक्षों के फल तोड़-तोड़कर खाये हैं, बाग़ खड़ा करने में कितनी कठोर साधना पूर्वजों को करनी पड़ी है, यह मैं अनुभव नहीं कर सकता। परंतु श्री सहदेव देवड़ा ने तो नये सिरे से अथक परिश्रम करके पुनः बाग लगाया था जिसके फल का लाभ उसके जैसे ही कर्मशील उसके दोनों पुत्र शरत और सतीश उठा रहे हैं। उनके जैसे पुत्र पाना मैं सहदेवजी के लिए समृद्धि पाने से भी अधिक सौभाग्य की बात मानता हूँ जो सब को अत्यधिक धन पाने के बाद भी ईश्वर की कृपा से ही संभव है। हम लोगों ने आर्थिक समृद्धि को ही परम सौभाग्य मान रक्खा है परंतु वह कभी दुर्भाग्य का भी कारण बन जाती है। मैंने कितने ही परिवारों में इसके उदाहरण देखे हैं। जो बाहर से अति समृद्ध दिखाई देते हैं, उनकी भी सच्ची स्थिति भीतर से जाँच करने पर कई बार दयनीय लगेगी।

मेरे कालेज के अन्य घनिष्ठ मित्रों में श्री राधेश्याम गुप्त थे जो प्रतापगढ़ के पड़ोस में भदोही नगर के रहनेवाले थे। वे जीवन की बहुत-सी ऊँची-नीची परिस्थितियाँ झेलकर अपने पुत्रों के साथ सुखी जीवन बिता रहे थे। कुछ वर्ष पूर्व भारत आने पर उनके देहावसान का समाचार मुझे मिला। कालेज के दिनों से ही मेरे परम स्नेही मित्र श्री सहदेव देवड़ा जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ, की मृत्यु की पीड़ा भी मुझे कुछ दिनों पहले झेलनी पड़ी है। हम लोग उम्र की ऐसी सीमा पर पहुँच गये हैं जहाँ इस प्रकार के दुःखद समाचार समय-समय पर मिलते ही रहते हैं। मैं जब भी भारत आता हूँ तो इस प्रकार की कोई दुःखद सूचना बरबस सुननी पड़ती है। जी दुःख और पीड़ा से भर जाता है, परंतु दूसरा कोई चारा नहीं है। कौन जानता है, कभी ऐसे समाचारों का विषय मैं स्वयं भी बन जाऊँ जिससे शायद दूसरों को कुछ दुःख पहुँचे।

धन के पाने के सुख में आइंस्टीन का सापेक्षवाद का सिद्धांत पूर्णतः काम करता है। उदाहरणार्थ, यदि एक करोड़पति के पास लाख रुपयों की पूँजी रह जाय तो वह अपने को अत्यंत दुःखी और भाग्यहीन व्यक्ति मानेगा परंतु यदि एक साधारण श्रेणी के व्यक्ति के पास लाख रुपये हो जायँ तो वह अपने को सौभाग्यशाली मानेगा और धरती पर पाँव भी नहीं रखेगा। लक्ष्मी की चपलता ही मानव जीवन में सुख-दुःख की धूप-छाँह का एक मात्र कारण नहीं है। उसे ही प्रमुखता देकर जीवन की सफलता-विफलता या सुख-दुःख का निर्धारण करना उचित नहीं है। सुख-दुख के जो सूत्र, जीवन को समग्रता से देखकर, निर्धारित किये गये है, वे ही सही हैं। राजस्थान में प्रचलित लोकोक्ति के अनुरूप **पहला सुख निरोगी काया** की यथार्थता से कौन इन्कार कर सकता है!

दूजा सुख घर में हो माया

माया अर्थात् धन का स्थान इसके बाद ही आता है। माया आने के बाद भी तीजा सुख गुणवंती नारी है। अर्थात् यदि स्त्री सुशील न हो तो धन के आने से नित्य कलह और झगड़े बढ़ जाते हैं और सुख के स्थान पर दुःख की वृद्धि हो जाती है। और गुणवंती नारी होने पर भी यदि **चौथा सुख, सुत आज्ञाकारी** और सुशील नहीं हो और दुश्चरित्र निकल गया हो तो धन और भी अधिक कष्टदायक प्रमाणित होता है। मुझे यहाँ अपने एक मित्र की बात याद आती है जिन्हें एक लाख की लौटरी

मिलने पर उनके पुत्रों में सारे दुर्व्यसन आ गये। लॉटरी मिलने की क्षणिक प्रसन्नता के बाद वे अपने पुत्रों की आचरणहीनता देखकर सदा आँसू बहाते रहते थे।

कालेज में आर्थिक लाभ-हानि का तो प्रश्न ही नहीं है। सब से सौभाग्यशाली विद्यार्थी वही माना जाता है जिसमें कोई निजी विशिष्टता हो, चाहे वह विशिष्टता भावी जीवन में उसके किसी काम न आती हो। मेरे स्कूल के जीवन में अजीज नामक एक विद्यार्थी फुटबॉल का बहुत अच्छा खिलाड़ी था। फुटबॉल के मैदान में वह जब गेंद लेकर बढ़ता तो उसके नाम की धूम मच जाती। सारे विद्यार्थी उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या करते। बाद के जीवन में मैंने उसे अत्यंत विपन्न खानाबदोश भिखारी का जीवन बिताते हुए देखा। आज अमेरिका में पहुँचकर सोचता हूँ कि यदि वह यहाँ के फुटबॉल का वैसा अच्छा खिलाड़ी होता, जहाँ खिलाड़ियों को पंद्रह बीस करोड़ रुपये तक की वार्षिक तन्ख्वाह मिलती है, तो वह राजा का-सा जीवन बिताता होता। कालेज में अच्छे गानेवालों और कविता करनेवालों का भी बड़ा आदर होता है और खिलाड़ियों के बाद लोकप्रियता में उनका ही नंबर आता है। परंतु जीवन के मैदान में इनका क्या महत्त्व है! पढ़ाई में प्रथम स्थान पानेवाला भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है परंतु प्रशंसा पाने और अपने लिए तालियों की गड़गड़ाहट सुनने का अवसर उसे वहाँ वर्ष में एक बार ही मिलता है जब कि खिलाड़ी, संगीतज्ञ और कवि को प्रशंसा पाकर पुलकित होने के अवसर निरंतर मिलते रहते हैं। मैंने कालेज के जीवन में कवि होने के सुख और गौरव का जो अनुभव किया और उसके कारण अपने को विशिष्ट मानने की जो सुखद अनुभूति भोगी है वह आगे के जीवन में भी केवल इसीलिए बनी रह सकी कि मैं सामाजिक और आर्थिक रूप से स्वतंत्र था। मेरी कविता ने उसमें चार चाँद लगा दिये। आगे के जीवन में भी वह मेरी विशिष्टता समझी गयी। कवित्व की जो प्रतिभा मुझे मिली थी और जिसे मैंने न तो अपनी जीविका का साधन बनाया और न जिसके कारण किसी प्रकार के राजनीतिक लाभ की अपेक्षा रक्खी, वह कालेज में कविता की दुंदुभी बजानेवाले कितने कवियों को आगे उपलब्ध होती है और संसार-समर में कविता और संगीत उनके क्या काम आता है! अपनी इन विशिष्टताओं को वे उसी प्रकार उतार फेंकते हैं जैसे साँप अपनी केंचुली उतार देता

है और नून, तेल, लकड़ी की चिंता में लग जाते हैं। मैंने और क्षेत्रों में मधुकर-वृत्ति भले ही दिखाई हो, कविता में तो सातत्य-योग का ही पालन किया है। प्रारंभिक जीवन में ही बेढबजी, निरालाजी, मैथिलीशरणजी गुप्त, बच्चनजी, श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध), महादेवी वर्मा, दिनकरजी, जैसे कवियों का तथा पं. रामचंद शुक्ल, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री नंददुलारे बाजपेयी, पं. सीताराम चतुर्वेदी तथा श्री श्रीनारायणजी चर्तुवेदी जैसे समालोचकों की प्रशंसा पाना क्या कोई कम सौभाग्य और प्रेरणा की बात थी !

कविता की पुस्तक यदि रुचिकर लगे तो कवि से मूल्य देकर ही लेनी चाहिए, इस नियम का पालन, कम से कम भारत में तो, आर्थिक दृष्टि से समर्थ होते हुए भी, बहुत कम लोग करते हैं। इसलिए जो कवि आर्थिक रूप से समर्थ न हों उनकी रचना प्रकाशन के अभाव में पड़ी रह जाती हैं। भाग्य ने इसमें भी मेरा साथ दिया और मेरी रचनाएँ निरंतर प्रकाशित होकर लोगों की प्रशंसा पाती रहीं हैं, इसने भी, हो सकता है, मुझे सदैव गतिशील रक्खा हो।

कालेज में मेरे अन्य सहपाठियों में एक किसन नामक विद्यार्थी भी याद आता है जो अपने सुरीले गले के कारण देवदास के सहगल की नकल करता रहता था। एक सहपाठिनी को उसने अपने प्रेम का लक्ष्य बना लिया था। जब वह सहपाठिनी विश्वविद्यालय के एक भवन से दूसरे भवन में अध्ययन करने जाती तो बीच के चायघर में बैठकर और सोडावाटर की बोतल शराब की बोतल की तरह घूँट–घूँट पीते हुए जब वह सहगल के अंदाज में अपनी बनायी हुई तुकबंदी, सुर में गाता तो हँसते हुए हम लोगों के पेट में बल पड़ जाते।

तीखे नाक-नक्शों के कारण और थोड़ी चंचल और शोख दिखने के कारण उस लड़की को वह अपनी काल्पनिक प्रेमिका बनाकर भाँति-भाँति के अभिनय करता। **किते न औगुण जग करै, नै वै चढ़ती बार,** बिहारी की यह उक्ति प्रसिद्ध है। इसीके उदाहरण-स्वरूप उस लड़की से संबंधित कालेज के दिनों के अपने भी एक बचपने का वर्णन यहाँ कर रहा हूँ। मैंने इंटरमीडियेट में विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया था। मुझे भौतिकी और रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला में भी प्रतिदिन व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए एक घंटे का समय देना होता

था। प्रयोगशाला में प्रत्येक विद्यार्थी को एक निश्चित डेस्क आवंटित कर दी जाती थी जिस पर उसे काम करना होता था। वह स्थान पूरे एक वर्ष के लिए उसी विद्यार्थी के लिए निश्चित रहता था। लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग प्रयोगशालाएं थीं। रसायन-विभाग की प्रयोगशाला में स्थान के आवंटन के दिन मैं अस्वस्थता के कारण कालेज नहीं जा सका और लड़कों के कक्ष में सभी स्थान भर दिये गये। दूसरे दिन जब मैंने अपने स्थान की माँग की तो लड़कों की प्रयोगशाला में स्थान ख़ाली न रहने के कारण मुझे लड़कियों के कक्ष में डाल दिया गया जहाँ 15-20 लड़कियों के बीच में मैं अकेला लड़का था। कालेज से लौटने पर इस व्यवस्था की बात सुनकर मेरे मित्र राधेश्याम गुप्त ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा –

'मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो कि इतनी लड़कियों के बीच तुम्हें रोमांस करने को अकेला छोड़ दिया गया है। तुम्हारी अनुपस्थिति की भूल ने भी तुम्हें लाभ ही पहुँचाया है।' इसके बाद उन्होंने दाग़ का एक शेर सुनाया –

गश खाके दाग़ यार के कदमों पे जा गिरा
बेहोश ने ये काम किया होशियार का

एक संयोग यह भी था कि मेरे लिए निश्चित सीट उसी शोख और चुलबुली लड़की के बगल में थी जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ। हँसी-मजाक में कही राधेश्याम गुप्त की बात मैंने सच करके दिखानी चाही। उन दिनों सुप्रसिद्ध समालोचक शांतिप्रिय द्विवेदी, जो मेरे परम प्रशंसक थे, बनारस से निकलनेवाली मासिक-पत्रिका **कमला** के संपादक थे। उस पत्रिका के प्रत्येक अंक में मेरी कविता वे बड़ी सजधज के साथ छापते थे। मैंने उस लड़की के नाम से एक प्रेमभावपूर्ण सरस गीत **कमला** में छपने को भेज दिया जो शांतिप्रियजी को बहुत पसंद आया और उन्होंने उसे खूब सजाकर अगले अंक में प्रकाशित कर दिया। उस लड़की के नाम से यह तो प्रत्यक्ष ही था कि वह हिंदी भाषी नहीं है अतः इतनी सुंदर हिंदी की कविता लिखती है, यह शांतिप्रियजी के चिर-कुमार हृदय के लिए विशेष आकर्षण की बात थी। उस गीत की दो पंक्तियाँ मुझे अब भी याद हैं –

प्रिय! तुम प्राणों के स्तर-स्तर में
झंकार तुम्हारी श्वास-श्वास जीवन-वीणा के स्वर-स्वर में

दूसरे महीने मैंने अपने नाम से **कमला** में एक गीत छपाया जिसकी प्रारंभिक पंक्तिया जो मुझे याद हैं, इस प्रकार थीं –

प्रिय! तुम न मिली तो जीवन क्या !
माना मुझ-सा सौंदर्य विश्व में कभी किसी को मिला नहीं
मैं ऐसा फूल खिला जैसा अब तक उपवन में खिला नहीं
इस सुषमा का क्या मोल किंतु मुड़कर न कभी देखा तुमने
कितना भी सुंदर हो पतंग, दीपक का आसन हिला नहीं
यदि आ न सकी खिँचकर तुम ही, मुझमें छवि क्या! आकर्षण क्या!

तीसरे महीने की **कमला** में मैंने एक गीत इस प्रकार के भावों से भरकर उस लड़की के नाम से छपवाया जैसे वह मेरे गीत का उत्तर दे रही हो। उसके गीत के उत्तर में पुनः **कमला** मे मेरा गीत मेरे नाम से छपा जो उसकी रचना के उत्तर में दिया गया जान पड़ता था। मेरे सहपाठियों ने **कमला** में इन गीतों की श्रंखला को पढ़कर समझा कि मेरा उस लड़की से रोमांस चल रहा है क्योंकि रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला में हम दोनों प्रतिदिन एक घंटा साथ ही बिताते थे। जब वह लड़की साइंस कालेज से आर्ट्स कालेज के भवन में जाती तो बीच में पड़नेवाली चाय की दुकान से, जहाँ सभी विद्यार्थियों का जमावड़ा रहता था, वे उस लड़की के नाम से प्रकाशित प्रेमगीतों को जोरों से गाकर उसे सुनाने की चेष्टा करते थे। वह किशोरी इस पर क्यों ध्यान देने लगी! न तो उसने **कमला** पत्रिका की शक्ल ही देखी थी, न उसकी किसी सहेली ने ही इस संबंध में उसे कुछ बताया था। जो गीत उसका ध्यान खींचने के लिए गाये जाते थे, उन पर बिना ध्यान दिये वह निर्लिप्त भाव से आगे बढ़ जाती थी। यदि उसे इस षड्यंत्र का पता चलता तो मेरी क्या गति होती, इस पर विचार करके ही अब काँप उठता हूँ। प्रेमगीतों का यह आदान-प्रदान कई महीने चलता रहा। शांतिप्रियजी जब भी मुझसे मिलते तो उस अहिंदीभाषी विज्ञान की छात्रा के हिंदी-ज्ञान और प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं थकते जिसे सुनकर मैं और मेरे मित्र राधेश्याम गुप्त खूब हँसते। राधेश्याम गुप्त ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें इस रहस्य का पता था। कुछ दिनों बाद यह जान कर कि वह किशोरी मेरी सहपाठिनी है और रसायनशाला में मेरी बगल में ही उसकी सीट है, शांतिप्रियजी मुझे उससे मिलाने का आग्रह करने लगे जिसे मैं कोई-न-कोई बह्मना बनाकर टालता गया। परंतु एक दिन उनके चिर-कुमार हृदय के धैर्य की सीमा टूट

गयी और वे विश्वविद्यालय में चले आये तथा पता लगाते हुए प्रयोगशाला के उस कक्ष तक पहुँच गये जहाँ मैं प्रयोगरत था और मेरी बगल में और लड़कियों के साथ वह लड़की भी काम कर रही थी। वे कक्ष में तो प्रवेश कर नहीं सकते थे, बाहर चक्कर लगाने लगे और उस लड़की के सौंदर्य को प्यासी आँखों से घूरते रहे। वे यह सोचते थे कि जब कक्षा की अवधि समाप्त होगी और हम लोग बाहर निकलेंगे तो मेरे माध्यम से वे उस लड़की से मिल सकेंगे और उसकी प्रशंसा के संचित उद्‌गार अपने हृदय से बाहर निकाल सकेंगे। शांतिप्रियजी को देखकर मेरे होश उड़ गये। भंडा फूटने से जो विस्फोट होता उसकी आशंका करके मैं काँप उठा। मैं तुरत प्रयोगशाला से बाहर निकल आया और झूठा-सच्चा बहाना बनाकर बड़ी कठिनाई से उन्हें वापस भेजने में समर्थ हुआ। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि शीघ्र ही उस उदीयमान कवयित्री से उन्हें मिला दूँगा।

कालेज से लौटकर मैंने राधेश्याम गुप्त को यह बात बतायी। प्रेम-गीतों का आदान-प्रदान कई महीनों चल चुका था और इस पर विश्व-विद्यालय के अधिकारियों की भी नजर पड़ गयी थी। इसलिए राधेश्याम गुप्त की भी राय हुई कि इस काल्पनिक प्रेम के नाटक को अब समाप्त कर देना चाहिए।

इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ जिसका रहस्योद्‌घाटन आज पहली बार कर रहा हूँ। अच्छी बात यही थी कि इस नाटक में कोई खलनायक नहीं था अन्यथा इसका अंत किसी दूसरे प्रकार का भी हो सकता था।

आई. एस-सी. परीक्षा में 9 अंकों की कमी से मैं प्रथम श्रेणी में आने से रह गया। मैंने इंजीनियरिंग कालेज में प्रवेश के लिए आवेदन दे दिया जहाँ मेरा प्रवेश एक प्रकार से निश्चित था। उन दिनों इंजीनियरिंग कालेजों में आज की तरह धक्कमधुक्का नहीं था। हमारे परिवार की गया नगर की बिजली सप्लाई कंपनी में प्रारंभ में एक जरमन मुख्य इंजीनियर था। उसके बाद दो अन्य इंजीनियर थे। मैं सोचता था कि मैं इंजीनियरिंग पास करके अपनी बिजली कंपनी का काम स्वयं सँभाल लूँगा। परंतु बेढबजी को जब यह ज्ञात हुआ तो वे बोले 'इंजीनियर तो देश में बहुत होंगे परंतु हिंदी को तुम्हारे जैसा दूसरा कवि कठिनाई से मिलेगा।' उनका प्रारंभ से ही मेरी काव्य-प्रतिभा में अत्यधिक विश्वास था। बेढबजी के आग्रह के कारण मैंने इंजीनियरिंग कालेज में जाने का विचार छोड़ दिया और आर्ट्स कालेज में दर्शन शास्त्र तथा अंग्रेजी साहित्य को विषय बनाकर प्रवेश ले लिया।

हिंदू विश्वविद्यालय के समय की मुझसे संबंधित एक और घटना का भी, जिसने विश्वविद्यालय में कुछ दिनों के लिए तूफान ला दिया था, यहाँ वर्णन करना मनोरंजक होगा। वह घटना विश्वविद्यालय के समारोह में नाटक खेले जाने से संबंधित है। उस समारोह के लिए **अनारकली** नाटक चुना गया और अनारकली का अभिनय करने के लिए मुझे राजी कर लिया गया। उन दिनों लड़कियों और लड़कों का सम्मिलित अभिनय नहीं होता था और मैं समझता हूँ, हिंदू विश्वविद्यालय में आज भी संभव नहीं है। नाटक में स्त्री-पात्रों का होना अनिवार्य है और इस कार्य के लिए किसी कम आयु के सुंदर विद्यार्थी की सदा अपेक्षा रहती है। उस नाटक के रिहर्सल के समय मेरी बगल में बैठे मेरे होस्टल के ही एक सीनियर विधार्थी ने मुझसे अश्लील छेड़खानी करने की चेष्टा की जिसकी सूचना मैंने हेड वार्डेन को दे दी। फिर क्या था मूल नाटक तो पीछे रह गया और दूसरा नाटक प्रारंभ हो गया। मेरा बयान लेने के बाद उस लड़के का बयान लिया गया और सूचना उपकुलपति तथा विश्वविद्यालय के शासन-विभाग तक जा पहुँची। हेड वार्डेन ने अपनी रिपोर्ट में मेरे अभियोग का समर्थन किया। सारे विश्वविद्यालय में आग-सी लग गयी और लड़के दो दलों में विभक्त हो गये। वह विद्यार्थी बिहार का था और मैं बिहार का होते हुए भी मारवाड़ी समझा गया इस लिए बिहार के सारे विद्यार्थी दल बाँधकर मेरे विरुद्ध अभियान चलाने लगे। यों ही मैं विद्यार्थियों में बहु-चर्चित था, इस घटना ने तो वही उक्ति चरितार्थ की, 'एक तो तितलौकी, दूजे नीम चढ़ी'। एक प्रसिद्ध व्यक्ति पर धूल उछालने में लोगों के अहं की तुष्टि तो होती ही है, उन्हें मजा भी आता है। मुझ पर अपना आरोप वापस लेने के लिए दबाव पर दबाव डाले जाने लगे और बिहार के विद्यार्थियों ने मुझे अपनी जमात से बहिष्कृत करने की धमकी भी दी। परंतु मुख्य वार्डेन और मेरे होस्टल के अधिकांश विद्यार्थी, जो मेरे शील-स्वभाव को जानते थे, मेरे साथ थे। मैं अपनी बात पर अड़ा रहा। यह तूफान प्रायः डेढ़-दो महीने तक चलता रहा जब तक कि अधिकारियों ने अंतिम निर्णय नहीं ले लिया और वह विद्यार्थी विश्वविद्यालय से निकाल नहीं दिया गया। ऐसी परिस्थिति में नाटक की बात तो लोग भूल ही गये। न फिर कोई रिहर्सल हुआ न नाटक खेला गया। समारोह बिना किसी नाटक के संपन्न हुआ।